७

जीवन में 'स्व' का विकास

मनुष्य के मन में राग और द्वेष की दो ऐसी वृत्तियाँ हैं, जो उसके सम्पूर्ण जीवन पर कुहरे की तरह छाई हुई हैं। इनका मूल बहुत गहरा है, साधारण साधक इसका समुच्छेदन नहीं कर सकता। शास्त्र में इनको 'आन्तरिक दोष' (अज्झत्थ दोसा) कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि इनकी जड़ें हमारे मन की बहुत गहराई में रहती हैं, वातावरण का रस पाकर विषबेल की तरह बढ़ती हुई ये व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र तक को आवृत कर लेती हैं।

बीज रूप में ये वृत्तियाँ हर सामान्य आत्मा में रहती हैं, किन्तु जब कभी ये प्रबल हो जाती हैं, अपनी उग्रतम स्थिति में आ जाती हैं, तो व्यक्ति को विक्षिप्त बना देती हैं, और व्यक्ति अपने कर्तव्य, मर्यादा एवं आदर्श को भूल बैठता है, एक प्रकार से अन्धा हो जाता है।

स्व-केन्द्रित राग :

राग वृत्ति इतनी गहरी और सूक्ष्म वृत्ति है कि उसके प्रवाह को समझ पाना कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है। मनुष्य का यह सूक्ष्मराग कभी-कभी अपने धन से, शरीर से, भोग-विलास से, प्रतिष्ठा और सत्ता से चिपट जाता है, तो वह मनुष्य को रीछ की तरह अपने पंजे में जकड़ लेता है। इसलिए राग को निगड़ बन्धन कहा गया है।

कभी-कभी मैं सोचता हूँ, राग और द्वेष एक प्रकार का वेग है, नशा है। जब यह नशा मन-मस्तिष्क पर छा जाता है, तो फिर मनुष्य पागल हो जाता है। वह कुछ सोच नहीं सकता, विचार नहीं सकता। बस, वह नशे की मादक धारा में बहता जाता है, प्रवाह में मुर्दे की तरह। यह प्रवाह अधोमुखी होता है, मनुष्य को नीचे से नीचे की ओर धकेलता ले जाता है, और यह अंत में किस अंधगर्त में ले जा कर पटकेगा, इसकी कोई कल्पना भी नहीं हो सकती।

जब मैं युद्धों के भीषण वर्णनों से भरे विश्व के इतिहास को देखता हूँ, राष्ट्र और समाज के उत्पीड़ित अतीत और वर्तमान जीवन को देखता हूँ, धर्म और सम्प्रदायों के द्वन्द्व और संघर्ष को देखता हूँ, पारिवारिक कलह और व्यक्तिगत मनोव्यथाओं के मूल को खोजता हूँ, तो बस राग और द्वेष की उथल-पुथल के सिवा और कोई तीसरा कारण नहीं मिलता। कहीं राग की प्रबल वृत्तियाँ प्रताड़ित कर रही हैं, तो कहीं द्वेष की उग्र ज्वालाएँ धधक रही हैं। किसी में देह का राग प्रबल होता है, तो किसी में धन का, किसी में सत्ता का, तो किसी में प्रतिष्ठा का। राग के साथ द्वेष तो सहजात बन्धु की तरह लगा ही रहता है।

मैं देखता हूँ, जिस संस्कृति में पिता को परमेश्वर, माता को भगवती और पत्नी को लक्ष्मी के रूप में पूजा गया है, उसी संस्कृति में पिता को कैदखाने में डाला गया, मूक पशु की तरह पिंजड़े में बन्द किया गया, माता को ठोकरें मारी गई, पत्नी को जुए के दाव पर लगाया गया। आखिर यह सब किसलिए? पिता की हत्या हुई, भाइयों का कत्ल हुआ, बन्धु और राष्ट्र के साथ विश्वासघात तथा द्रोह हुआ—यह सब क्यों हुआ? आप में यदि सामाजिक और राजनीतिक प्रतिभा है, तो आप इनके राजनीतिक कारण बता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते हैं, किन्तु मनुष्य के मन का सूक्ष्म विश्लेषण करने वाला मनोविश्लेषक और अध्यात्म की गुत्थियाँ सुलझाने वाला संत, उसे मनुष्य के मन की ग्रन्थियाँ एवं राग-द्वेष की सूक्ष्म वृत्तियाँ ही बतलाएगा। वस्तुतः वही इसका एकमात्र मूल है।

जिन्हें आप धर्मपुत्र कहते हैं, नीति और धर्म का प्रहरी समझते हैं, वे युधिष्ठिर अपनी धर्म-पत्नी द्रौपदी को, जो पवित्र तेजस्वी नारी है, उसे दाव पर लगाते हुए सकुचाए तक नहीं। संस्कृति की यह कितनी बड़ी विडम्बना है! इसका मूल कारण वही है—द्यूत का अनुराग! और, उसके पीछे खड़ा है सत्ता और विजय का व्यामोह!

मध्यकाल के भारतीय इतिहास के विक्रमादित्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने, जिस शौर्यशाली वाकाटक वंश की परम सुन्दरी कन्या ध्रुवदेवी के साथ पुनर्विवाह किया, वह कौन थी? चन्द्र के बड़े भाई रामगुप्त की पत्नी! जब रामगुप्त शकों द्वारा बन्दी बना लिया गया, तो शकराज ने प्राणदण्ड से बचने का एक मार्ग बताया कि तुम अपनी पत्नी को हमारे चरणों में सौंप दो, उसके अद्वितीय सौंदर्य का उपभोग करने दो। इस पर रामगुप्त ध्रुवदेवी को पत्र लिखता है, कि "मैं शकराज द्वारा बंदी बना लिया गया हूँ, मेरे लिए जीवन रखने का एक ही मार्ग है कि तुम शकराज की सेवा में तन-मन से समर्पित हो जाओ!"

यह घटना क्या बताती है? एक सम्राट्, मगध और अवन्तिका के विशाल साम्राज्य का होनहार स्वामी, जिसका कर्तव्य था अपने धर्म की रक्षा करना, प्रजा के तन-धन और जीवन की रक्षा करना, पर वह अपनी पत्नी की भी रक्षा नहीं कर पा रहा है! अपने जीते जी, अपने हाथों से अपनी पत्नी को, शत्रु के चरणों में समर्पित करना चाहता है। यह बात दूसरी है, चन्द्रगुप्त के पराक्रम और सूझ-बूझ से यह दुर्घटना होते-होते बच गई! किन्तु मैं देखता हूँ, एक क्षत्रिय राजकुमार! सम्राट् समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र! इतने नीचे स्तर पर क्यों आ गया? अपने प्राणों के तुच्छ मोह और राग में अन्धा होकर ही तो।

मगध का प्रतापी सम्राट् अजातशत्रु कुणिक अपने पिता महाराज श्रेणिक को बन्दी बनाकर पिंजड़े में बन्द कर देता है। जैन आगम बताते हैं कि कुणिक के जन्म लेते ही उसकी माता महारानी चेलना भावी अनिष्ट की किसी आशंका से उसे बाहर घूरे पर फिंकवा देती है, किन्तु महाराज श्रेणिक पुत्रमोह के कारण उसे उठा लेते हैं, पक्षी के द्वारा काटी गई पुत्र की उंगली का मवाद—पश अपने मुंह से चूसकर ठीक करते हैं और अपने हाथों से उसकी सेवा-परिचर्या करते हैं। पिता के वृद्ध होने पर वही पुत्र शासन सत्ता के व्यामोह में फँस जाता है, और अपने भाइयों व मंत्रीगण को गाँठकर सम्राट् को पिंजड़े में ठूंस देता है। सत्ता का राग मनुष्य को कितना अंधा, पागल और क्रूर बना देता है—यह इस घटना से स्पष्ट हो जाता है।

आगरा का यह विश्वविश्रुत ताजमहल, जिस मुगल सम्राट् का प्रणय-स्वप्न है, उस शाहजहाँ को जिन्दगी के अन्तिम दिन जेल में बिताने पड़े थे। वह अपने ही पुत्र औरंगजेब द्वारा बन्दी बनाया गया। ऐसा क्यों? इस्लाम के इस कट्टर अनुयायी शासक ने अपने यशस्वी और कलाप्रेमी पिता को कारागृह की चारदिवारी के अन्दर क्यों ठूंस दिया, और क्यों अपने सगे भाइयों को कत्ल करके खुश हुआ? मैं समझता हूँ, इन प्रश्नों का उत्तर वही एक है। सत्ता, धन और प्रतिष्ठा का उग्र राग! जिस प्रकार द्वेष की वृत्तियाँ मनुष्य को पिशाच और राक्षस बना देती हैं—वैसे ही राग की निम्न एवं क्षुद्र वृत्तियाँ भी मनुष्य को क्रूर और मूढ़ बनाने वाली हैं। राग वृत्ति का यह अधोमुखी प्रवाह है, जिसे हम स्व-केन्द्रित राग, मोह, व्यामोह और विमूढ़ता कहते हैं।

मैं समझता हूँ, द्वेष की अपेक्षा राग की विमूढ़ित परिणतियों ने मनुष्य जाति का अधिक संहार एवं विनाश किया है। वैसे प्रत्येक पक्ष में राग के साथ द्वेष का पहलू जुड़ा ही रहता है। रामायण और महाभारत के युद्ध क्या हैं? एक मनुष्य के काम-राग की उदग्र फलश्रुति है, तो दूसरी मनुष्य के राज्यलोभ की रोमांचक कहानी है। वैसे राम-रावण के युद्ध में भी मनुष्य के अहंकार और द्वेष के प्रबल रूप मिलते हैं, किन्तु महाभारत के युद्ध का मुख्य स्रोत तो दुर्योधन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के क्षुद्र अहंकार और क्रोध का एक दुष्परिपाक ही प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य जाति के युद्ध, संघर्ष और विनाश के इतिहास का मूल उत्स ये ही वृत्तियाँ हैं।

राग की वृत्तियाँ : भीतरी आवरण :

राग की वृत्तियाँ कभी-कभी उदात्त रूप में भी व्यक्त होती हैं, वह मनुष्य को धर्म, समाज और राष्ट्र के लिए बलिदान होने को भी प्रेरित करती हैं और मनुष्य अपना प्राण हथेली में ले कर मौत से पिल पड़ता है। राग के इस ऊर्ध्वमुखी प्रवाह के उदाहरण भी इतिहास के पृष्ठों पर चमक रहे हैं और उनसे एक आदर्श प्रेरणा प्रस्फुरित हो रही है। राग का यह ऊर्ध्वीकरण मनुष्य के राष्ट्रिय एवं सामाजिक जीवन का मेरुदण्ड है, यह मानते हुए भी मैं आपसे उस भूमिका से ऊपर की एक बात और कह देना चाहता हूँ, वह है अध्यात्म की बात।

अध्यात्म के चिंतनशील आचार्यों ने द्वेष को जिस प्रकार एक बंधन तथा आवरण माना है, उसी प्रकार राग को भी। उनकी दृष्टि में ये दोनों आवरण हैं, और चेतना के आवरण हैं, भीतर के आवरण हैं।

अध्यात्म की यह अद्भुत विशेषता है कि उसने कभी भी बाहरी आवरण की चिंता नहीं की। शरीर, इन्द्रियाँ, धन, परिवार ये सब केवल बाहरी आवरण हैं। अपने आप में ये न बुरे हैं, न भले। ये अकेले में कोई दुष्परिणाम पैदा नहीं करते, विनाश और संहार नहीं करते और न कल्याण ही कर सकते हैं। जैन-दर्शन ने इसीलिए इन आवरणों को 'अघातिया' कर्म कहा है।

आघाती कर्म :

घाती-अघाती कर्म की व्याख्या समझ लेने पर भगवान् महावीर की जीवन-दृष्टि आपके समक्ष स्पष्ट हो जाएगी, ऐसा मुझे विश्वास है।

आघाती का मतलब है, आत्मस्वरूप को किसी भी प्रकार की घात नहीं पहुँचानेवाला कर्म। आप जीवित हैं, आयुष्य का भोग कर रहे हैं, तो इससे यह मतलब नहीं कि आपकी आत्मज्योति मलिन हो रही है। आप कोई पाप, अनर्थ या बुराई कर रहे हैं। आप यदि शताधिक वर्ष भी जीवित रहते हैं, तो भी इससे कोई आत्मस्वरूप में बाधा पहुँचने जैसी बात नहीं है। नाम कर्म के उदय से सुन्दर एवं दृढ़ शरीर मिला है, इंद्रियों की संपूर्ण सुन्दर रचना हुई है, तो इससे भी आत्मा पतित नहीं हो जाती है। वेदनीय कर्म से सुख-दुःख की उपलब्धि होती है, किन्तु न सुख आत्मज्योति को मलिन करता है और न दुःख ही। ऊँच-नीच गोत्र मिलने से भी आत्मा कोई ऊँची-नीची नहीं हो जाती। इस प्रकार आप देखेंगे कि जैन-दर्शन का संघर्ष बाह्य में नहीं है। बाह्य से कभी वह न डरता है और न लड़ता है। उसका संघर्ष तो मात्र भीतर से है।

बाहर में धन है, तो उससे क्या ? धन स्वयं में न कोई बुराई है, न भलाई। बुराई भलाई, हानि-लाभ तो उसके उपयोग में है। उपयोग का यह तत्त्व भावना में रहता है। यदि आप उसका सदुपयोग करते हैं, तो उस धन से पुण्य भी कर सकते हैं, सेवा भी कर सकते हैं। घर में बच्चा भूखा है, आप दूध पी रहे हैं, और उसे दूध नहीं मिला है। आप सोचते हैं कि मैं आज नहीं पीऊँगा, दूध बच्चे को दे देना चाहिए। घर या पड़ोस में कोई अस्वस्थ है, उसे आवश्यकता है, अब आप अपनी वस्तु को उसे समर्पित कर देते हैं, यह वस्तु का सदुपयोग है। यदि आप वस्तु का गलत नियोजन करते हैं, धन से शराब और वेश्या-गमन आदि की वृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं, तो वही वस्तु बुरी भी बन जाती है।

धर्म : एक शाश्वत दर्शन :

कहने का अभिप्राय यह है कि धन से बुराई का जन्म नहीं होता, बल्कि मन से होता है। मन मैला है, घूरा है, तो वहाँ कुछ भी डाल दो, कीड़े ही पैदा होंगे। मन अगर स्वच्छ है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उर्वर खेत है, तो वहाँ गन्दी से गन्दी चीज भी उर्वरक बन जाएगी, फसल खड़ी कर देगी। इसलिए धर्म कहता है–सबसे पहले मन को तैयार करो। मन को शिक्षण दो, ताकि वह समय पर सही निर्णय करने में समर्थ हो सके, गलत काम से बच सके। धर्म का दर्शन और चिन्तन मन को तैयार करने का उपक्रम है।

सैद्धान्तिक चर्चाएँ, अथवा समस्त दार्शनिक विचारणाएँ वर्तमान में भले ही विशेष उपयोगी प्रतीत न हों, पर मन की भूमिका तैयार करने में इनका सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए हमारा धर्म केवल धर्म ही नहीं, दर्शन भी है। धर्म जीवन व्यवहार का विधायक है, तो दर्शन उसका मार्गद्रष्टा है। साधारण लोगों के जीवन में धर्म केवल धर्म रूप ही रहता है, वह सिर्फ वर्तमान का एक सत्कर्म मात्र रहता है, किन्तु विवेकशील व्यक्ति के जीवन में धर्म दर्शन के रूप में प्रवेश करता है। वह सिर्फ कर्म ही नहीं, बल्कि चिंतन भी बन जाता है, जीवन का मार्गद्रष्टा बन जाता है। मन को सही निर्णय करने की ट्रेनिंग देता है। किसी भी समय में, कैसी भी परिस्थिति में, यदि मन भटकता है, तो दर्शन उसको सही मार्ग पर ले आता है। इस तरह धर्म वर्तमान जीवन को व्यवस्थित करता है, तो दर्शन भविष्य के लिए मन की भूमिका तैयार करता है। मन को किसी भी स्थिति का सामना करने के लिए निपुण एवं दक्ष बनाता है।

धर्म के पहलवान!

हम एक बार एक गाँव में गए। वहाँ बहुत बड़े दंगल की तैयारी हो रही थी। उस गाँव में एक पहलवान था, बड़ा दबदबा था उसका। गाँव वालों को भी उस पर बड़ा नाज था। उसके लिए गाँव वालों ने अलग से एक भैंस ले रखी थी। उस भैंस का मक्खन व दूध उसे रोज चटाया जाता, उसकी हर आवश्यकता की पूर्ति के लिए गाँव वाले दिल खोल कर खर्च करते और वह जब गलियों से निकलता, तो बड़ा लम्बा-चौड़ा होकर निकलता! एक बार उस पहलवान को किसी बाहर के पहलवान ने चुनौती दी, और उसी के गाँव में दंगल होना भी तय हुआ! समय पर सब लोग मैदान में उसका इंतजार कर रहे थे, पर वह घर से निकला तक नहीं। कहीं जाकर दुबक गया। गाँव वालों ने उसकी बड़ी थू-थू की और कहा, गाँव की नाक कटा दी, इज्जत मिट्टी में मिला दी।

धर्म के क्षेत्र में भी ऐसे पहलवानों की कमी नहीं है। वे धर्म क्रिया की भैंस का दूध-मक्खन चाटते रहते हैं, मंदिर व धर्मस्थान में पहलवानी करते रहते हैं, तो लोगों को लगता है, पहलवान बड़ा तगड़ा है, जीवन-संघर्ष में निश्चित ही विजयी होगा। किन्तु, जब मान-अपमान एवं हानि-लाभ के द्वन्द्व उठ खड़े होते हैं, धर्म की परीक्षा का समय आता है, निर्णायक घड़ी आती है, तो वे पहलवान फिसड्डी बन जाते हैं, उनका मन निस्तेज और निष्प्राण हो जाता है। वे कर्तव्य-अकर्तव्य का उचित निर्णय नहीं कर सकते, धर्म-अधर्म का फैसला नहीं कर सकते, उनका मन पीछे की खिड़की से भागने का प्रयत्न करने लगता है।

अतः यह स्पष्ट है, समय पर न्यायोचित कर्तव्य के लिए तैयार रहना, यह मन की ट्रेनिंग है, इसके लिए केवल धर्मक्रिया की भैंस का दूध पीते रहना ही काफी नहीं है, सिद्धान्त और दर्शन की जिन्दादिली भी आवश्यक है। यह जिन्दादिली ही मन की तैयारी है, जो समय पर सही निर्णय देने में समर्थ होती है।

अंतरंग असंगता :

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि मन की भूमिका ऐसी होनी चाहिए कि वह शरीर, इन्द्रिय, धन आदि को सत्कर्म में नियोजित कर सकें। वृत्तियों को उदात्त रूप दे सके! शरीर, इन्द्रिय आदि तो प्रारब्ध के भोग हैं, रथ के घोड़े हैं, इन्हें जहाँ भी जोड़ा जाए, वहीं जुड़ जाएँगे और जिधर भी मोड़ा जाए, उधर ही मुड़ जाएँगे। किधर मोड़ना है, यह निर्णय मन को करना होगा। यदि राग-द्वेष की ओर इनकी गति होगी, तो वे बन्ध के कारण होंगे।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

यदि असंगवृत्ति और आत्माभिमुखता की ओर गति होगी, तो वे ही मुक्ति का कारण बन जाएँगे।

"बन्धाय विषयासक्तं, मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्
—मैत्रायणी आरण्यक, ६, ३४, ११.

भारतीय चिंतन कहता है कि एक चक्रवर्ती सम्राट् जितना परिग्रही हो सकता है, एक गली का भिखारी भी, जिसके पास भीख माँगने के लिए फूटा ठीकरा भी नहीं है, उतना ही परिग्रही हो सकता है। बाहर में दोनों के परिग्रह की कोई तुलना नहीं है, आकाश-पाताल का अन्तर है, किन्तु भीतर में उस भिखारी की आसक्ति, मोह-मुग्धता उस सम्राट् से कम नहीं है, बल्कि कुछ ज्यादा ही हो सकती है।

भरत चक्रवर्ती, जिसके लिए कहा गया है कि उनका जीवन जल में कमल की भाँति था, चक्रवर्ती के सिंहासन पर बैठ कर भी उनका मन ऋषि का था, सच्चे साधक का मन था। अतः वह शीशमहल में प्रविष्ट होते हैं एक चक्रवर्ती के रूप में, और निकलते है 'अर्हन्त' केवली के रूप में। कितना विलक्षण जीवन है! यह स्थिति जीवन के अंतरंग चित्र को स्पष्ट करती है, मन की असंगता का महत्त्व दर्शाती है। मन को राग-द्वेष से मुक्त करने के लिए आन्तरिक असंगता का ही महत्त्व है।

स्वार्थ : 'ही' या 'भी' :

शरीर और इन्द्रिय, जाति और गोत्र, धन और प्रतिष्ठा—ये सब अघाति हैं, आत्मस्वरूप की घात इनसे नहीं होती, साधना में किसी प्रकार की बाधा इनसे नहीं आती। जो बाधक तत्त्व है, वह मोह है, मन की रागात्मक वृत्तियाँ हैं। इन वृत्तियों का यदि आप उदात्तीकरण कर देते हैं, इनके प्रवाह को ऊर्ध्वमुखी बना देते हैं, तो ये आपके अनुकूल हो जाती हैं, आपकी साधना में तेजस्विता ला सकती हैं। आप अपनी स्थिति में आ जाते हैं। आत्मा का जो जोतिर्मय स्वरूप है, उस स्थिति के निकट पहुँच जाते हैं। और, यदि इनके प्रवाह को नहीं रोक पाते हैं, तो पतन और बंधन निश्चित है।

आप लोग 'स्वार्थ' शब्द का प्रयोग करते हैं। किन्तु स्वार्थ का अर्थ क्या है? स्वार्थ की परिभाषा है 'स्व' का अर्थ! 'स्व का मतलब आत्मा है, आत्मा का जो लाभ एवं हित है, वह है स्वार्थ!' स्वार्थ की यह कितनी उदात्त परिभाषा है! जिन प्रवृत्तियों से आत्मगुणों का अभ्युदय होता है, वह प्रवृत्ति कभी भी बुरी नहीं होती, हेय नहीं होती। किन्तु 'स्वार्थ' का जब आप निम्नगामी अर्थ कर लेते हैं, अपने शरीर और अपने व्यक्तिगत भोग तक ही उसका अर्थ लेते हैं, तब वह कलुषित अर्थ में प्रयुक्त हो जाता है। उसमें भी एक दृष्टि है—यदि आप स्वार्थ के दोनों अर्थ समझते हैं और अनेकांत दृष्टि के साथ इनका प्रयोग करते हैं, तो कोई बात नहीं। 'स्वार्थ' अर्थात् आत्मा के हित में भी, 'स्वार्थ' अर्थात् इन्द्रिय व शरीर के हित में भी। इस प्रकार आप 'भी' का प्रयोग करिए। शरीर व इन्द्रियों के भोग को पूरा करना 'ही' यदि लक्ष्य है, तो वह बिल्कुल गलत है, किन्तु यदि इसमें 'भी' लग जाती है, तो कोई आपत्ति नहीं। शरीर के भोगों को 'भी' यथोचित पूरा करना, इसके साथ धर्म का अवरोध नहीं है, किन्तु इसमें 'ही' के लगते ही धर्म का केन्द्र टूट जाता है, वह एकांतवादी दृष्टिकोण हो जाता है। जैन-दर्शन के बहुश्रुत आचार्य भद्रबाहु ने बतलाया है कि धर्म, अर्थ और काम में परस्पर शत्रुता नहीं है, विरोध नहीं है। धर्मानुकूल अर्थ, काम का जिन-धर्म में कतई विरोध नहीं है।[१] इसका अभिप्राय यह है कि साधक शरीर आदि से निरपेक्ष होकर नहीं रह सकता, किन्तु एकान्त सापेक्ष भी नहीं हो सकता। उसे आत्मा के केन्द्र पर 'भी'

---

१. धम्मो अत्थो कामो, भिन्नेते पिंडिया पडिसवत्ता।
जिणवयणं उत्तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा॥
—दशवै०, नि० २६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहना है, और शरीर के केन्द्र पर 'भी'। व्यक्तिगत भोग व अपेक्षा की भी पूर्ति करनी है, और अनासक्त धर्म की साधना भी ! 'भी' का अर्थ है सन्तुलन ! दोनों केन्द्रों का, दोनों पक्षों का संतुलन किए बिना जीवन चल नहीं सकता।[1]

दो घोड़ों की सवारी :

एक युवक मेरे पास आया। वह कुछ खिन्न व चिंतित-सा था। बात चली, तो उसने पूछा—मैं क्या करूँ, कुछ रास्ता ही नहीं सूझ रहा है ? मैंने कहा—क्या बात है ? बोला—माँ और पत्नी में बात-बात पर तकरार होती है, लड़ाई होती है, आप बतलाइए मैं किसका पक्ष लूँ ?

मैंने हँसकर कहा—"यह बात तुम मुझसे पूछते हो...? खैर, यदि पक्ष लेना है, तो दोनों का लो, दो पक्षों का संतुलन रख कर ही ठीक निर्णय किया जा सकता है। पक्षी भी आकाश में उड़ता है, तो दोनों पंख बराबर रखकर ही उड़ सकता है, एक पंख से गति नहीं होती। यदि तुम पत्नी का पक्ष लेते हो, तो माँ के गौरव पर चोट आती है, उसका अस्तित्व खतरे में पड़ता है, और माँ का पक्ष लेते हो, तो पत्नी पर अन्याय होता है, उसका स्वाभिमान तिलमिला उठता है। इसलिए दोनों का सन्तुलन बनाए बिना गति नहीं है। दोनों को समाधान तभी मिलेगा, जब तुम दोनों के पक्ष पर सही विचार करोगे और यथोचित सन्तुलन बनाओगे।"

आप दुकान पर जाते हैं, और घर पर भी आते हैं, यदि दुकान पर ही बैठे रहे, तो घर कौन संभालेगा, और घर पर ही बैठे रहे, तो दुकान पर धन्धा कौन करेगा ? न घर पर 'ही' रहना है, न दुकान पर 'ही'। बल्कि, घर पर 'भी' रहना है और दुकान पर 'भी'। दोनों का सन्तुलन बराबर रखना है। शायद आप कहेंगे—यह तो दो घोड़ों की सवारी है, बड़ी कठिन बात है। मैं कहता हूँ—यही तो घुड़सवारी की कला है। एक घोड़े पर तो हर कोई चढ़ कर यात्रा कर सकता है। उसमें विशेषता क्या है ? दो घोड़ों पर चढ़कर जो गिरे नहीं, बराबर चलता रहे, सन्तुलन बनाए रखे, यही तो चमत्कार है।

मनुष्य को जीवन में दो क्या, हजारों घोड़ों पर चढ़कर चलना होता है। घर में माता-पिता होते हैं, उनका सम्मान रखना पड़ता है, पत्नी होती है, उसकी समस्या भी पूरी करनी पड़ती है, छोटे भाई, बहन और बच्चे होते हैं, तो उनको भी ठीक रखना होता है, समाज के मुखिया, नेता और धर्मगुरुओं का भी आदर करना होता है—सर्वत्र संतुलन बनाकर चलना पड़ता है। यदि कहीं थोड़े से भी घबड़ा गए, सन्तुलन बिगड़ गया, तो कितनी परेशानी होती है, मुझसे कहीं ज्यादा आप इस बात का अनुभव करते होंगे। यह संतुलन तभी रह सकता है जब आप 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करेंगे। जैनधर्म, जो मनुष्य के उत्तरदायित्वों को स्वीकार करता है, जीवन से इन्कार नहीं, इकरार सिखाता है, वह जीवन को सुखी, कर्तव्य-निष्ठ और शांतिमय बनाने के लिए इसी 'भी' की पद्धति पर बल देता है, वह जीवन में सर्वत्र संतुलन बनाए रखने का मार्ग दिखाता है।

'स्व' का संतुलन :

मैं प्रारम्भ में आपको कुछ राजाओं की बात सुना चुका हूँ, उनके जीवन में वे विकथाएँ, और दुर्घटनाएँ क्यों पैदा हुईं ? आप सोचेंगे और पता लगाएँगे तो उनमें 'स्व' का असंतुलन ही मुख्य कारण मिलेगा। मैंने आप से बताया कि 'स्व' का अर्थ आत्मा भी होता है और

---

१. (क) भोक्ता च धर्माविरुद्धान् भोगान्। एवमुभौ लोकावभिजयति
—आप स्तम्ब० २।८।२०।२२-२३

(ख) धर्माविरुद्धः कामोस्मि। —गीता

(ग) धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। —कौटिल्य अर्थ० १।७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर भी। मनुष्य का आभ्यंतर व्यक्तित्व भी 'स्व' है और बाह्य व्यक्तित्व भी! 'स्व' का भीतरी केन्द्र आत्मा है, आत्मा के गुण एवं स्वरूप का विकास करना, उसकी गुप्त शक्तियों का उद्घाटन करना, यह 'स्व' का भीतरी विकास है। 'स्व' का दूसरा अर्थ स्वयं, शरीर आदि है। 'स्वयं' का, अर्थात् परिवार, समाज तथा राष्ट्र का पोषण, संरक्षण एवं संवर्धन करना। यही 'स्व' का बाह्य-आभ्यंतर संतुलन है। मनुष्य के इस बाह्य-आभ्यंतर 'स्व' का संतुलन जब बिगड़ जाता है, तब राष्ट्रों में ही क्या, हर परिवार व घर में रावण और दुर्योधन पैदा होते हैं। कंस व कुणिक-से पुत्र जन्म लेते हैं। रामगुप्त और औरंगजेब का उद्भव होता है। और, तब व्यक्ति और समाज, धर्म और राष्ट्र रसातल की ओर जाते हैं।

जैन-दर्शन ने मनुष्य के 'स्व' को, स्वार्थ को बहुत विराट् रूप में देखा है और उसके व्यापक विकास की भूमिका प्रस्तुत की है। उसके समक्ष बाह्य और आभ्यंतर—दोनों प्रकार से, स्वार्थ की पूर्ति का संकल्प रखा है, किन्तु दोनों के संतुलन के साथ। 'भी' के साथ, न कि 'ही' के साथ। आध्यात्मिक विकास की ओर भी उन्मुख होना है, जीवन में वैराग्य, निस्पृहता और आत्मलीनता का विकास भी करना है और परिवार व समाज के उत्तरदायित्वों को भी निभाना है। जीवन में दरिद्र और भिखारी रह कर धर्म-साधना का उपदेश जैन-दर्शन नहीं करता। वह तो आपका आभ्यन्तर जीवन भी सुखी व संपन्न देखना चाहता है और बाह्य जीवन भी। इन दोनों का सन्तुलन बनाकर चलना—यही वृत्तियों का उदात्तीकरण है, जीवन का ऊर्ध्वमुखी स्रोत है। और, यह वह उत्स है, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर जाने वाली धाराएँ साथ-साथ बहती हैं।[1] बस, यही तो धर्म का मर्म है।

---

१. यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।—वैशेषिक दर्शन, १-१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org